समाधिमरण (मृत्युवरण) : एक तुलनात्मक तथा समीक्षात्मक अध्ययन

जैन परम्परा के सामान्य आचार नियमों में संलेखना या संथारा (मृत्युवरण) एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। जैन गृहस्थ उपासकों एवं श्रमण साधकों दोनों के लिए स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण का विधान जैन आगमों में उपलब्ध है। जैन आगम साहित्य ऐसे साधकों की जीवन गाथाओं से भरा पड़ा है जिन्होंने समाधिमरण का व्रत ग्रहण किया था। अन्तकृत्दशांगसूत्र एवं अनुत्तरोपातिकसूत्र में उन श्रमण साधकों का और उपासकदशांगसूत्र में आनन्द आदि उन गृहस्थ साधकों का जीवन दर्शन उपलब्ध है, जिन्होंने अपने जीवन की संध्या-वेला में समाधि-मरण का व्रत लिया था। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार मृत्यु के दो रूप हैं— १. समाधिमरण या निर्भयतापूर्वक मृत्युवरण और २. भयपूर्वक मृत्यु से ग्रसित हो जाना।[१] समाधिमरण में मनुष्य का मृत्यु पर शासन होता है, जबकि अनिच्छापूर्वक मरण में मृत्यु मनुष्य पर शासन करती है। पहले को पण्डितमरण कहा गया है जबकि दूसरे को बालमरण (अज्ञानीमरण) कहा गया है। एक ज्ञानीजन की मौत है, दूसरी अज्ञानी की। अज्ञानी विषयासक्त होता है और इसलिए वह मृत्यु से डरता है, जबकि सच्चा ज्ञानी अनासक्त होता है अत: वह मृत्यु से नहीं डरता है।[२] जो मृत्यु से भय खाता है, उससे बचने के लिए भागा-भागा फिरता है, मृत्यु भी उसका सदैव पीछा करती रहती है, लेकिन जो निर्भय हो मृत्यु का स्वागत करता है, उसे आलिंगन करता है, मृत्यु उसके लिए निरर्थक हो जाती है। जो मृत्यु से भय खाता है, वह मृत्यु का शिकार होता है, लेकिन जो मृत्यु से निर्भय हो जाता है वह अमरता की दिशा में आगे बढ़ जाता है। साधकों के प्रति महावीर का सन्देश यही था कि मृत्यु के उपस्थित होने पर शरीरादि से अनासक्त होकर उसे आलिंगन दे दो।[३] महावीर के दर्शन में अनासक्त जीवन शैली की यही महत्त्वपूर्ण कसौटी है, जो साधक मृत्यु से भागता है, वह सच्चे अर्थ में अनासक्त जीवन जीने की कला से अनभिज्ञ है। जिसे अनासक्त मृत्यु की कला नहीं आती उसे अनासक्त जीवन की कला भी नहीं आ सकती। इसी अनासक्त मृत्यु की कला को महावीर ने संलेखना व्रत कहा है। जैन परम्परा में संथारा, संलेखना, समाधिमरण, पण्डितमरण और सकाममरण आदि निष्काम मृत्युवरण के ही पर्यायवाची नाम है। आचार्य समन्तभद्र संलेखना की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि आपत्तियों, अकालों, अतिवृद्धावस्था एवं असाध्य रोगों में शरीर त्याग करने को संलेखना कहते है,[४] अर्थात् जिन स्थितियों में मृत्यु अनिवार्य सी हो गई हो उन परिस्थितियों में मृत्यु के भय से निर्भय होकर देहासक्ति का विसर्जन कर मृत्यु का स्वागत करना ही संलेखना व्रत है।

समाधिमरण के भेद आगम

जैन आगम ग्रन्थों में मृत्युवरण के अवसरों की अपेक्षा के आधार पर समाधि-मरण के दो प्रकार माने गये है— १. सागारी संथारा, और २. सामान्य संथारा।

सागारी संथारा : जब अकस्मात् कोई ऐसी विपत्ति उपस्थित हो, जिसमें से जीवित बच निकलना सम्भव प्रतीत न हो, जैसे आग में गिर जाना, जल में डूबने जैसी स्थिति हो जाना अथवा हिंसक पुशु या किसी ऐसे दुष्ट व्यक्ति के अधिकार में फँस जाना जहाँ सदाचार से पतित होने की सम्भावना हो, ऐसे संकटपूर्ण अवसरो पर जो संथारा, ग्रहण किया जाता है, वह सागारी संथारा कहलाता है। यदि व्यक्ति उस विपत्ति या संकटपूर्ण स्थिति से बाहर हो जाता है तो वह पुन: देह-रक्षण के सामान्य क्रम को चालू रख सकता है। संक्षेप में अकस्मात् मृत्यु का अवसर उपस्थित हो जाने पर जो संथारा ग्रहण किया जाता है, वह सागारी संथारा मृत्यु-पर्यन्त के लिए नहीं, वरन् परिस्थिति विशेष के लिए होता है अत: उस परिस्थिति विशेष के समाप्त हो जाने पर उस व्रत की मर्यादा भी समाप्त हो जाती है।[५]

सामान्य संथारा : जब स्वाभाविक जरावस्था अथवा असाध्य रोग के कारण पुन: स्वस्थ होकर जीवित रहने की समस्त आशाएँ धूमिल हो गयी हों, तब यावज्जीवन तक जो देहासक्ति एवं शरीर-पोषण के प्रयत्नों का त्याग किया जाता है और जो देहपात पर ही पूर्ण होता है वह सामान्य संथारा है। सामान्य संथारा ग्रहण करने के लिए जैन आगमों में निम्न स्थितियाँ आवश्यक मानी गयी हैं—

जब शरीर की सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों के सम्पादन करने में अयोग्य हो गयी हों, जब शरीर का माँस एवं शोणित सूख जाने से शरीर अस्थिपंजर मात्र रह गया हो, पचन-पाचन, आहार-निहार आदि शारीरिक क्रियाएँ शिथिल हो गयी हों और इनके कारण साधना और संयम का परिपालन सम्यक् रीति से होना सम्भव नहीं हो, इस प्रकार मृत्यु का जीवन की देहली पर उपस्थित हो जाने पर ही सामान्य संथारा ग्रहण किया जा सकता है।[६] सामान्य संथारा तीन प्रकार का होता है—

(अ) भक्तप्रत्याख्यान—आहार आदि का त्याग करना।

(ब) इङ्गितमरण—एक निश्चित भू-भाग पर हलन-चलन आदि शारीरिक क्रियाएँ करते हुए आहार आदि का त्याग कर देना।

(स) पादोपगमन—आहार आदि के त्याग के साथ-साथ शारीरिक क्रियाओं का निरोध करते हुए मृत्यु-पर्यन्त निश्चल रूप से लकड़ी के तख्ते के समान स्थिर पड़े रहना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपरोक्त सभी प्रकार के समाधि-मरणों में मन का समभाव में स्थित होना अनिवार्य माना गया है।

समाधिमरण ग्रहण करने की विधि

जैन आगमों में समाधिमरण ग्रहण करने की विधि निम्नानुसार बताई गयी है—सर्वप्रथम मलमूत्रादि अशुचि विसर्जन के स्थान का अवलोकन कर नरम तृणों की शैय्या तैयार कर ली जाती है। तत्पश्चात् अरिहन्त, सिद्ध और धर्माचार्यों को विनयपूर्वक नमस्कार कर पूर्वगृहीत प्रतिज्ञाओं में लगे हुए दोषों की आलोचना और उनका प्रायश्चित ग्रहण किया जाता है। इसके बाद समस्त प्राणियों से क्षमा-याचना की जाती है और अन्त में अठारह पापस्थानो, अन्नादि चतुर्विध आहारों का त्याग करके शरीर के ममत्व एवं पोषणक्रिया का विसर्जन किया जाता है। साधक प्रतिज्ञा करता है कि मैं पूर्णतः हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ यावत् मिथ्यादर्शन शल्य से विरत होता हूँ, अन्न आदि चारो प्रकार के आहार का यावज्जीवन के लिए त्याग करता हूँ। मेरा यह शरीर जो मुझे अत्यन्त प्रिय था, मैने इसकी बहुत रक्षा की थी, कृपण के धन के समान इसे सम्भालता रहा था, इस पर मेरा पूर्ण विश्वास था (कि यह मुझे कभी नहीं छोड़ेगा), इसके समान मुझे अन्य कोई प्रिय नहीं था, इसलिए मैंने इसे शीत, गर्मी, क्षुधा, तृष्णा आदि अनेक कष्टों से एवं विविध रोगों से बचाया और सावधानीपूर्वक इसकी रक्षा करता रहा था, अब मैं इस देह का विसर्जन करता हूँ और इसके पोषण एवं रक्षण के प्रयासों का परित्याग करता हूँ।[७]

बौद्ध परम्परा में मृत्युवरण

यद्यपि बुद्ध ने जैन परम्परा के समान ही धार्मिक आत्महत्याओं को अनुचित माना है, तथापि बौद्ध साहित्य में कुछ ऐसे सन्दर्भ अवश्य हैं जो स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण का समर्थन करते है। संयुक्तनिकाय में असाध्य रोग से पीड़ित भिक्षु वक्कलि कुलपुत्र[८] भिक्षु छन्न[९] द्वारा की गई आत्महत्याओं का समर्थन स्वयं बुद्ध ने किया था और उन्हें निर्दोष कह कर दोनो ही भिक्षुओं को परिनिर्वाण प्राप्त करने वाला बताया था। जापानी बौद्धों में तो आज भी हरीकरी की प्रथा मृत्युवरण की सूचक है।

फिर भी जैन परम्परा और बौद्ध परम्परा में मृत्युवरण के प्रश्न को लेकर कुछ अन्तर भी है। प्रथम तो यह कि जैन परम्परा के विपरीत बौद्ध परम्परा में शस्त्रवध से तत्काल ही मृत्युवरण कर लिया जाता है। जैन आचार्यो ने शस्त्रवध के द्वारा तात्कालिक मृत्युवरण का विरोध इसलिए किया था कि उन्हें उसमें मरणाकांक्षा की सम्भावना प्रतीत हुई। उनके अनुसार यदि मरणाकांक्षा नहीं है तो फिर मरण के लिए उतनी आतुरता क्यों? इस प्रकार जहाँ बौद्ध परम्परा शस्त्रवध के द्वारा की गई आत्महत्या का समर्थन करती है, वहीं जैन परम्परा उसे अस्वीकार करती है। इस सन्दर्भ में बौद्ध परम्परा वैदिक परम्परा के अधिक निकट है।

वैदिक परम्परा में मृत्युवरण

सामान्यतया हिन्दू धर्मशास्त्रों में आत्महत्या को महापाप माना गया है। पाराशरस्मृति में कहा गया है कि जो क्लेश, भय, घमण्ड और क्रोध के वशीभूत होकर आत्महत्या करता है, वह साठ हजार वर्ष तक नरकवास करता है,[१०] लेकिन इनके अतिरिक्त हिन्दू धर्मशास्त्रों में ऐसे भी अनेक सन्दर्भ हैं जो स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण का समर्थन करते हैं। प्रायश्चित्त के निमित्त से मृत्युवरण का समर्थन मनुस्मृति (११/९०-९१) याज्ञवल्क्यस्मृति (३/२५३, गौतमस्मृति (२३/१), वशिष्ठधर्मसूत्र (२०/२२, १३/१४) और आपस्तंबसूत्र (१/९/२५/१-३, ६) में भी किया गया है। मात्र इतना ही नहीं, हिन्दू धर्मशास्त्रों में ऐसे भी अनेक स्थल हैं, जहाँ मृत्युवरण को पवित्र एवं धार्मिक आचरण के रूप में देखा गया है। महाभारत के अनुशासनपर्व (२५/६२-६४), वनपर्व (८५/८३) एवं मत्स्यपुराण (१८६/३४/३५) में अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, गिरिपतन, विषयप्रयोग या उपवास आदि के द्वारा देह त्याग करने पर ब्रह्मलोक या मुक्ति प्राप्त होती है ऐसा माना गया है। अपरार्क ने प्राचीन आचार्यों के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि यदि कोई गृहस्थ असाध्य रोग से पीड़ित हो, जिसने अपने कर्तव्य पूरे कर लिए हों, वह महाप्रस्थान हेतु अग्नि या जल में प्रवेश कर अथवा पर्वतशिखर से गिरकर अपने प्राणों की आहुति दे सकता है। ऐसा करके वह कोई पाप नहीं करता। उसकी मृत्यु तो तपों से भी बढ़कर है। शास्त्रानुमोदित कर्तव्यों के पालन में अशक्त होने पर जीवन जीने की इच्छा रखना व्यर्थ है[१२]। श्रीमद्भागवत के ११वें स्कन्ध के १८वें अध्याय में भी स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण को स्वीकार किया गया है। वैदिक परम्परा में स्वेच्छा मृत्युवरण का समर्थन न केवल शास्त्रीय आधारों पर हुआ है वरन् व्यावहारिक जीवन में इसके अनेक उदाहरण भी परम्परा में उपलब्ध हैं। महाभारत में पाण्डवों के द्वारा हिमालय-यात्रा में किया गया देहपात मृत्युवरण का एक प्रमुख उदाहरण है। डॉ० पाण्डुरंग वामन काणे ने वाल्मीकि रामायण एवं अन्य वैदिक धर्मग्रन्थों तथा शिलालेखों के आधार पर शरभंग, महाराजा रघु, कलचुरी के राजा गांगेय, चंदेल कुल के राजा गंगदेव, चालुक्यराज सोमेश्वर आदि के स्वेच्छा मृत्युवरण का उल्लेख किया है[१३]। मैगस्थनीज ने भी ईश्वी पूर्व चतुर्थ शताब्दी में प्रचलित स्वेच्छामरण का उल्लेख किया है। प्रयाग में अक्षयवट से कूद कर गंगा में प्रणान्त करने की प्रथा तथा काशी में करवत लेने की प्रथा वैदिक परम्परा में मध्य युग तक भी काफी प्रचलित थी[१४]। यद्यपि ये प्रथाएँ आज नामशेष हो गयी हैं फिर भी वैदिक संन्यासियों द्वारा जीवित समाधि लेने की प्रथा आज भी जनमानस की श्रद्धा का केन्द्र है।

इस प्रकार हम देखते है कि न केवल जैन और बौद्ध परम्पराओं में, वरन् वैदिक परम्परा में भी मृत्युवरण को समर्थन दिया गया है। लेकिन जैन और वैदिक परम्पराओं में प्रमुख अन्तर यह है कि जहाँ वैदिक परम्परा में जल एवं अग्नि से प्रवेश, गिरिशिखर से गिरना, विष या शस्त्र प्रयोग आदि विविध साधनों से मृत्युवरण का विधान मिलता है, वहाँ जैन परम्परा में सामान्यतया केवल उपवास द्वारा ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देहत्याग का समर्थन मिलता है। जैन परम्परा शस्त्र आदि से होने वाली तात्कालिक मृत्यु की अपेक्षा उपवास द्वारा होने वाली क्रमिक मृत्यु को ही अधिक प्रशस्त मानती है। यद्यपि ब्रह्मचर्य की रक्षा आदि कुछ प्रसंगों में तात्कालिक मृत्युवरण को स्वीकार किया गया है, तथापि सामान्यतया जैन आचार्यों ने तात्कालिक मृत्युवरण जिसे प्रकारान्तर से आत्महत्या भी कहा जा सकता है, की आलोचना की है। आचार्य समन्तभद्र ने गिरिपतन या अग्निप्रवेश के द्वारा किये जाने वाले मृत्युवरण को लोकमूढ़ता कहा है[१५]। जैन आचार्यों की दृष्टि में समाधि-मरण का अर्थ मृत्यु की कामना नहीं, वरन् देहासक्ति का परित्याग है। उनके अनुसार तो जिस प्रकार जीवन की आकांक्षा दूषित मानी गई है, उसी प्रकार मृत्यु की आकांक्षा को भी दूषित मानी गयी है।

समाधिमरण के दोष

जैन आचार्यों ने समाधिमरण के लिए निम्न पाँच दोषों से बचने का निर्देश किया है— १. जीवन की आकांक्षा, २. मत्यु की आकांक्षा, ३. ऐहिक सुखों की कामना, ४. पारलौकिक सुखों की कामना और ५. इन्द्रियों के विषयों के भोग की आकांक्षा।

जैन परम्परा के समान बुद्ध ने भी जीवन की तृष्णा और मृत्यु की तृष्णा दोनों को ही अनैतिक माना है। बुद्ध के अनुसार भवतृष्णा और विभवतृष्णा क्रमशः जीविताशा और मरणाशा की प्रतीक हैं और जब तक ये आशाएँ या तृष्णाएँ उपस्थित हैं तब तक नैतिक पूर्णता सम्भव नहीं है। अत: साधक को इनसे बच के ही रहना चाहिए। लेकिन फिर भी यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या समाधिमरण मृत्यु की आकांक्षा नहीं है?

समाधिमरण और आत्महत्या

जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों की परम्पराओं में जीविताशा और मरणाशा दोनों को अनुचित माना गया है[१६] तो यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से खड़ा होता है कि क्या समाधिमरण मरणाकांक्षा नहीं है? वस्तुत: यह न तो मरणाकांक्षा है और न आत्महत्या ही। व्यक्ति आत्महत्या या तो क्रोध के वशीभूत होकर करता है या फिर सम्मान या हितों को गहरी चोट पहुँचने पर अथवा जीवन के निराश हो जाने पर करता है, लेकिन ये सभी चित्त की सांवेगिक अवस्थाएँ हैं जब की समाधि-मरण तो चित्त की समत्व की अवस्था है। अत: वह आत्महत्या नहीं कही जा सकती। दूसरे आत्महत्या या आत्मबलिदान में मृत्यु को निमंत्रण दिया जाता है। व्यक्ति के अन्तस् में मरने की इच्छा छिपी हुई होती है, लेकिन समाधिमरण में मरणाकांक्षा का अभाव ही अपेक्षित है, क्योंकि समाधिमरण के प्रतिज्ञा-सूत्र में ही साधक यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं मृत्यु की आकांक्षा से रहित होकर आत्मरमण करुँगा (काल अकंखमाणं विहरामि) यदि समाधिमरण में मरने की इच्छा ही प्रमुख होती तो उसके प्रतिज्ञा-सूत्र में इन शब्दों के रखने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। जैन विचारकों ने तो मरणाकांक्षा को समाधिमरण का दोष ही माना है। अत: समाधिमरण को आत्महत्या नहीं कहा जा सकता। जैन विचारकों ने इसीलिए सामान्य स्थिति में शस्त्रवध, अग्निप्रवेश या गिरिपतन आदि साधनों के द्वारा तात्कालिक मृत्युवरण को अनुचित ही माना है क्योंकि उनके पीछे मरणाकांक्षा की सम्भावना रही हुई है। समाधिमरण में आहारादि के त्याग में मृत्यु की चाह नहीं होती, मात्र देह-पोषण का विसर्जन किया जाता है। मृत्यु उसका परिणाम अवश्य है लेकिन उसकी आकांक्षा नहीं। जैसे व्रण की चीर फाड़ के परिणामस्वरूप वेदना अवश्य होती है लेकिन उसमें वेदना की आकांक्षा नहीं होती है। जैन आचार्य ने कहा है कि समाधिमरण की क्रिया मरण के निमित्त नहीं होकर उसके प्रतिकार के लिए है। जैसे व्रण का चीरना वेदना के निमित्त नहीं होकर वेदना के प्रतिकार के लिए होता है[१७]। यदि ऑपरेशन की क्रिया में हो जाने वाली मृत्यु हत्या नहीं हैं तो फिर समाधिमरण में हो जाने वाली मृत्यु आत्महत्या कैसे हो सकती है? एक दैहिक जीवन की रक्षा के लिए है तो दूसरी आध्यात्मिक जीवन की रक्षा के लिए है। समाधिमरण और आत्महत्या में मौलिक अन्तर है। आत्महत्या में व्यक्ति जीवन के संघर्षों से ऊब कर जीवन से भागना चाहता है, उसके मूल में कायरता है। जबकि समाधिमरण में देह और संयम की रक्षा के अनिवार्य विकल्पों में से संयम की रक्षा के विकल्प को चुनकर मृत्यु का साहसपूर्वक सामना किया जाता है। समाधिमरण में जीवन से भागने का प्रयास नहीं वरन् जीवन-बेला की अन्तिम संध्या में द्वार पर खड़ी हुई मृत्यु का स्वागत है। आत्महत्या में जीवन से भय होता है, जबकि समाधिमरण में मृत्यु से निर्भयता होती है। आत्महत्या असमय मृत्यु का आमंत्रण है जबकि संथारा या समाधिमरण मात्र मृत्यु के उपस्थित होने पर उसका सहर्ष आलिंगन है। आत्महत्या के मूल में या तो भय होता है या कामना, जबकि समाधिमरण में भय और कामना दोनों की अनुपस्थिति आवश्यक होती है।

समाधिमरण आत्म-बलिदान से भी भिन्न है। पशु-बलि के समान आत्म-बलि की प्रथा भी शैव और शाक्त सम्प्रदायों में प्रचलित रही है। लेकिन समाधिमरण को आत्म-बलिदान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आत्म-बलिदान भी भावना का अतिरेक है। भावातिरेक आत्म-बलिदान की अनिवार्यता है जबकि समाधिमरण में भावातिरेक नहीं वरन् विवेक का प्रकटन आवश्यक है।

समाधिमरण के प्रत्यय के आधार पर आलोचकों ने यह कहने का प्रयास भी किया है कि जैन दर्शन जीवन से इकरार नहीं करता वरन् जीवन से इन्कार करता है, लेकिन गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह धारणा भ्रान्त ही सिद्ध होती है। उपाध्याय अमर मुनिजी लिखते हैं—वह (जैन दर्शन) जीवन से इन्कार नहीं करता है अपितु जीवन के मिथ्या मोह से इन्कार करता है। जीवन जीने में यदि कोई महत्त्वपूर्ण लाभ है और वह स्व-पर की हित साधना में उपयोगी है तो जीवन सर्वतोभावेन संरक्षणीय है[१८]। आचार्य भद्रबाहु भी ओघनिर्युक्ति में कहते हैं—साधक का देह ही नहीं रहा तो संयम कैसे रहेगा, अत: संयम की साधना के लिए देह का परिपालन इष्ट है[१९]। लेकिन देह के परिगलन की क्रिया संयम के निमित्त है, अत: देह का ऐसा परिपालन जिसमें संयम ही समाप्त हो, किस काम का! साधक का जीवन न तो जीने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के लिए है न मरण के लिए है। वह तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सिद्धि के लिए है। यदि जीवन से ज्ञानादि आध्यात्मिक गुण की सिद्धि एवं शुद्ध वृद्धि हो तो जीवन की रक्षा करते हुए वैसा करना चाहिए, किन्तु यदि जीवन से भी ज्ञानादि की अभिष्ट सिद्धि नहीं होती हो तो वह मरण भी साधक के लिए शिरसा श्लाघनीय है[२०]।

समाधिमरण का मूल्यांकन

स्वेच्छामरण के सम्बन्ध में पहला प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य को प्राणान्त करने का नैतिक अधिकार है? पं० सुखलाल जी ने जैन दृष्टि से इन प्रश्न का जो उत्तर दिया है उसका संक्षिप्त रूप यह है कि जैन धर्म सामान्य स्थितियों में चाहे वह लौकिक हो या धार्मिक, प्राणान्त करने का अधिकार नहीं देता है लेकिन जब देह और आध्यात्मिक सद्गुण इनमें से किसी एक की पसन्दगी करने का विषम समय आ गया हो तो देह का त्याग करके भी अपनी विशुद्ध आध्यात्मिक स्थिति को बचाया जा सकता है, जैसे सती स्त्री दूसरा मार्ग न देखकर देह नाश के द्वारा भी अपने सतीत्व की रक्षा कर लेती है।[२१] जब तक देह और संयम दोनों की समान भाव से रक्षा हो सके तो तब तक दोनों की ही रक्षा कर्तव्य है पर जब एक की ही पसन्दगी करने का सवाल आये तो सामान्य व्यक्ति देह की रक्षा पसन्द करेंगे और आध्यात्मिक संयम की उपेक्षा करेंगे, जबकि समाधिमरण का अधिकारी इससे उल्टा करेगा। जीवन तो दोनों ही हैं-दैहिक और आध्यात्मिक। आध्यात्मिक जीवन जीने वालों के लिए प्राणान्त या अनशन की इजाजत है, पामरों, भयभीतों और लालचियों के लिए नहीं। भयंकर दुष्कर आदि तंगी में देहरक्षा के निमित्त संयम से पतित होने का अवसर आ जाये या अनिवार्य रूप से मरण लाने वाली बीमरियों के कारण खुद को और दूसरों को निरर्थक परेशानी होती हो, फिर संयम और सद्गुण की रक्षा सम्भव न हो तब मात्र समभाव की दृष्टि से संथारे या स्वेच्छामरण का विधान है. इस प्रकार जैन दर्शन मात्र सद्गुणों की रक्षा के निमित्त प्राणान्त करने की अनुमति देता है, अन्य स्थितियों में नहीं। यदि सद्गुणों की रक्षा के निमित्त देह का विसर्जन किया जाता है तो वह अनैतिक नहीं हो सकता। नैतिकता की रक्षा के लिए किया गया देह-विसर्जन अनैतिक कैसे होगा।

जैन दर्शन के इस दृष्टिकोण का समर्थन गीता में भी उपलब्ध है। गीता कहती है कि यदि जीवित रहकर (आध्यात्मिक सद्गुणों के विनाश के कारण) अपकीर्ति की सम्भावना हो तो उस जीवन से मरण ही श्रेष्ठ है[२२]।

आदरणीय काका कालेलकर लिखते है कि मृत्यु शिकारी के समान हमारे पीछे पड़े और हम बचने के लिए भागते जायें, यह दृश्य मनुष्य को शोभा नहीं देता। जीवन का प्रयोजन समाप्त हुआ, ऐसा देखते ही मृत्यु को आदरणीय अतिथि समझ कर उसे आमन्त्रण देना, उसका स्वागत करना और इस तरह से स्वेच्छा-स्वीकृत मरण के द्वारा जीवन को कृतार्थ करना, यह एक सुन्दर आदर्श है। आत्महत्या को नैतिक दृष्टि से उचित मानते हुए वे कहते हैं कि इसे हम आत्महत्या नहीं कहें, निराश होकर, कायर होकर या डर के मारे शरीर छोड़ देना यह एक किस्म की हार ही है। उसे हम जीवन-द्रोह भी कह सकते हैं। सब धर्मों ने आत्महत्या की निन्दा की है लेकिन जब मनुष्य सोचता है कि उसके जीवन का प्रयोजन पूर्ण हुआ, ज्यादा जीने की आवश्यकता नहीं रही तब वह आत्म-साधना के अन्तिम रूप के तौर पर अगर शरीर छोड़ दे तो वह उसका हक है। मैं स्वयं व्यक्तिशः इस अधिकार का समर्थन करता हूँ।[२३]

समकालीन विचारकों में आदरणीय धर्मानन्द कौसम्बी और महात्मा गांधी ने भी मनुष्य को प्राणान्त करने के अधिकार का समर्थन नैतिक दृष्टि से किया था। महात्माजी का कथन है कि जब मनुष्य पापाचार का वेग बलवत्तर हुआ देखता है और आत्महत्या के बिना अपने को पाप से नहीं बचा सकता तब होने वाले पाप से बचने के लिए उसे आत्महत्या करने का अधिकार है।[२४] कौसम्बीजी ने भी अपनी पुस्तक 'पार्श्वनाथ का चार्तुयाम धर्म' में स्वेच्छामरण का समर्थन किया था और उसकी भूमिका में पं० सुखलाल जी ने 'उन्होंने अपनी स्वेच्छा-मरण की इच्छा को भी अभिव्यक्त किया था' यह उद्धृत किया है[२५]।

काका कालेलकर स्वेच्छामरण को महत्त्वपूर्ण मानते हुए जैन परम्परा के समान ही कहते हैं कि जब तक यह शरीर मुक्ति का साधन हो सकता है तब तक अपरिहार्य हिंसा को सहन करके भी इसे जिलाना चाहिए। जब हम यह देखें कि आत्मा के अपने विकास के प्रयत्न में शरीर बाधा रूप ही होता है तब हमें उसे छोड़ना चाहिए। जो किसी हालत में जीना चाहता है उसकी निष्ठा तो स्पष्ट है ही, लेकिन जो जीवन से उब कर अथवा केवल मरने के लिए मरना चाहता है, तो उसमें भी विकृत शरीर-निष्ठा है। जो मरण से डरता है और जो मरण ही चाहता है, वे दोनों जीवन का रहस्य नहीं जानते। व्यापक जीवन में जीना और मरना दोनों का अन्तर्भाव होता है, उन्मेष और निमेष दोनों क्रियाएँ मिलकर ही देखने की एक क्रिया पूरी होती है[२६]।

भारतीय नैतिक चिन्तन में केवल जीवन जीने की कला पर ही नहीं वरन् उसमें जीवन की कला के साथ मरण की कला पर भी विचार किया गया है। नैतिक चिन्तन की दृष्टि से किस प्रकार जीवन जीना चाहिए यही महत्त्वपूर्ण नहीं है वरन् किस प्रकार मरना चाहिए यह भी मूल्यावान है। मृत्यु की कला जीवन की कला से भी महत्त्वपूर्ण है, आदर्श मृत्यु ही नैतिक जीवन की कसौटी है। जीवन का जीना तो विद्यार्थी के सूत्रकालीन अध्ययन के समान है, जबकि मृत्यु परीक्षा का अवसर है। हम जीवन की कमाई का अन्तिम सौदा मृत्यु के समय करते हैं। यहाँ चूके तो फिर पछताना होता है और इसी अपेक्षा से कहा जा सकता है कि जीवन की कला की अपेक्षा मृत्यु की कला अधिक मूल्यवान है। भारतीय नैतिक चिन्तन के अनुसार मृत्यु का अवसर ऐसा अवसर है, जब हममें से अधिकांश अपने भावी जीवन का चुनाव करते हैं। गीता का कथन है कि मृत्यु के समय जैसी भावना होती है वैसी ही योनि जीव प्राप्त करता है (१८/५-६)। जैन परम्परा में खन्धक मुनि की कथा यही बताती है कि जीवन भर कठोर साधना करनेवाला महान् साधक जिसने आपनी प्रेरणा एवं उद्बोधन से अपने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहचारी पाँच सौ साधक शिष्यों को उपस्थित मृत्यु की विषम परिस्थिति में समत्व की साधना के द्वारा निर्वाण का अमृतपान कराया वही साधक स्वयं की मृत्यु के अवसर पर क्रोध के वशीभूत हो किस प्रकार अपने साधना-पथ से विचलित हो गया। वैदिक परम्परा में जड़भरत का कथानक भी यही बताता है कि इतने महान साधक को भी मरण बेला में हरिण पर आसक्ति रखने के कारण पशु योनि को प्राप्त होना पड़ा। उपरोक्त कथानक हमारे सामने मृत्यु का मूल्य उपस्थित कर देते हैं। मृत्यु इस जीवन की साधना का परीक्षा काल है। वह इस जीवन में लक्षोपलब्धि का अन्तिम अवसर और भावी जीवन की कामना का आरम्भ बिन्दु है। इस प्रकार वह अपने में दो जीवनों का मूल्य संजोए हुए है। मरण जीवन का अवश्यम्भावी अंग है। उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। वह जीवन का उपसंहार है, जिसे सुन्दर बनाना हमारा एक आवश्यक कर्तव्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्प्रति युग के प्रबुद्ध विचारक भी समाधिमरण को अनैतिक नहीं मानते हैं। अत: जैन दर्शन पर लगाया जाने वाला यह आक्षेप कि वह जीवन के मूल्य को अस्वीकार करता है, उचित नहीं माना जा सकता। वस्तुत: समाधिमरण पर जो आपेक्ष लगाये जाते हैं उनका सम्बन्ध समाधिमरण से न होकर आत्महत्या से है। कुछ विचारकों ने समाधिमरण और आत्महत्या के वास्तविक अन्तर को नहीं समझा और इसी आधार पर समाधिमरण को अनैतिक कहने का प्रयास किया, लेकिन जैसा कि हम पूर्व में सिद्ध कर चुके हैं, कि समाधिमरण या मृत्युवरण आत्महत्या नहीं है और इसलिए उसे अनैतिक भी नहीं कहा जा सकता। जैन आचार्यों ने स्वयं भी आत्महत्या को अनैतिक माना है, लेकिन उनके अनुसार आत्महत्या समाधिमरण से भिन्न है।

डॉ० ईश्वरचन्द्र ने जीवनमुक्त व्यक्ति के स्वेच्छामरण को तो आत्महत्या नहीं माना है लेकिन उन्होंने जैन परम्परा में किये जाने वाले संथारे को आत्महत्या की कोटि में रख कर उसे अनैतिक भी बताया है।[२७] इस सम्बन्ध में उनके तर्क का पहला भाग यह है कि स्वेच्छा-मरण का व्रत लेने वाले सामान्य जैन मुनि जीवनमुक्त एवं अलौकिक शक्ति से युक्त नहीं होते और अपूर्णता की दशा में लिया गया आमरण व्रत (संथारा) नैतिक नहीं हो सकता। अपने तर्क के दूसरे भाग में वे कहते हैं कि जैन परम्परा में स्वेच्छामृत्युवरण (संथारा) करने में यथार्थता की अपेक्षा आडम्बर अधिक होता है इसलिए वह अनैतिक भी है। जहाँ तक उनके इस दृष्टिकोण का प्रश्न है कि जीवनमुक्त एवं अलौकिक शक्ति सम्पन्न व्यक्ति ही स्वेच्छामरण का अधिकारी है, हम सहमत नहीं हैं। वस्तुत: स्वेच्छामरण की आवश्यकता उस व्यक्ति के लिए नहीं है जो जीवनमुक्त है और जिसकी देहासक्ति समाप्त हो गई है, वरन् उस व्यक्ति के लिए है, जिसमें देहासक्ति रही हुई है, क्योंकि समाधिमरण तो इसी देहासक्ति को समाप्त करने के लिए है। समाधिमरण एक साधन है, इसलिए वह जीवनमुक्त के लिए (सिद्ध के लिए) आवश्यक नहीं है। जीवनमुक्त को तो समाधिमरण सहज ही प्राप्त होता है । उसके लिए इसकी साधना का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। जहाँ तक उनके इस आक्षेप का प्रश्न है कि समाधि-मरण में यथार्थ की आपेक्षा आडम्बर ही अधिक परिलक्षित होता है, उसमें आंशिक सत्यता अवश्य हो सकती है लेकिन इसका सम्बन्ध संथारे या समाधिमरण के सिद्धान्त से नहीं, वरन् उसके वर्तमान में प्रचलित विकृत रूप से है, लेकिन इस आधार पर उसके सैद्धान्तिक मूल्य में कोई कमी नहीं आती है। यदि व्यावहारिक जीवन में अनेक व्यक्ति असत्य बोलते हैं तो क्या उससे सत्य के मूल्य पर कोई आँच आती है? वस्तुत: स्वेच्छामरण के सैद्धान्तिक मूल्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

मृत्युवरण तो मृत्यु की वह कला है, जिसमें न केवल जीवन ही सार्थक होता है वरन् मरण भी सार्थक हो जाता है। आदरणीय काका कालेलकर ने खलील जिब्रान की यह वचन उद्धृत किया है कि "एक आदमी ने आत्मरक्षा के हेतु खुदकशी की, आत्महत्या की, यह वचन सुनने में विचित्र सा लगता है।"[२८] आत्महत्या से आत्मरक्षा का क्या सम्बन्ध हो सकता है? वस्तुत: यहाँ आत्मरक्षा का अर्थ आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों का संरक्षण है और आत्महत्या का मतलब शरीर का विसर्जन। जब नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के संरक्षण के लिए शारीरिक मूल्यों का विसर्जन आवश्यक हो तो उस स्थिति में देह-विसर्जन या स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण ही उचित है। आध्यात्मिक मूल्यों की रक्षा प्राणरक्षा से श्रेष्ठ है। गीता में स्वयं अकीर्तिकर जीवन की अपेक्षा मरण को श्रेष्ठ मान कर ऐसा ही संकेत दिया है।[२९] काका कालेलकर के शब्दों में जब मनुष्य देखता है कि विशिष्ट परिस्थिति में यदि जीना है तो हीन स्थिति और हीन विचार या हीन सिद्धान्त मान्य रखना जरूरी ही है, तब श्रेष्ठ पुरुष कहता है कि जीने से नहीं मर कर ही आत्मरक्षा होती है।[३०]

वस्तुत: समाधिमरण का यह व्रत हमारे आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों के संरक्षण के लिए ही लिया जाता है और इसलिए यह पूर्णत: नैतिक है।

---

१. अकाममरणं चेव सकाममरणं तहा। -उत्तराध्ययन, संपा० मधुकरमुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८४, ५/२।

२. बालाणं अकामं तु मरणं असइं भवे।
पंडियाणं सकामं तु उक्कोसेण सइं भवे।।
— वही, १९८४, ५/३।

३. अहकालम्मि संपत्ते आघायाय समुस्सयं।
सकाममरणं मरई तिण्हमन्नयरं मुणी।। — वही, ५/३२।

४. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहु: संल्लेखनामार्या: ।।
— रत्नकरण्डश्रावकाचार, समन्तभद्र, प्रका० माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९२६, अध्याय ५।

५. देखिये—अंतकृतदशांगसूत्र के अर्जुनमाली के अध्याय में सुदर्शन सेठ के द्वारा किया गया सागारी संथारा।

६. देखिये—अंतकृतदशांगसूत्र, संपा० मधुकरमुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८१, वर्ग ८ अध्याय१।

७. प्रतिक्रमण सूत्र, संल्लेखना का पाठ, संपा० रत्नाकर विजय जी,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रका० अजीतनाथ जैन धर्मकरण, उदयपुर, वि०सं० २०३९।

८. संयुक्तनिकाय, अनु० जगदीश कश्यप एवं धर्मरक्षित महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, १९५४, २१/२/४/५।

९. संयुक्तनिकाय, अनु० जगदीश कश्यप एवं धर्मरक्षित महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, १९५४, ३४/२/४/४।

१० अतिमानादत्रिक्रोधात्स्नेहाद्वा यदि वा भयात्।
उद्बध्नीयात्स्त्री पुमान्वा गतिरेषा विधीयते
पूयशोणितसम्पूर्णे अन्धे तमसि मज्जति।
षष्टि वर्षसहस्राणि नरकं प्रतिपद्यते ।। —पराशरस्मृति ४/१/२

११. महाभारत आदि पर्व १७९/२०

१२. विशेष जानकारी के लिए देखिये—धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० ४८८
—अपरार्क पृ० ५३६

१३. धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० ४८७

१४. धर्मशास्त्र का इतिहास पृ० ४८८

१५. रत्नकरण्डश्रावकाचार २२

१६. देखिये—
(अ) दर्शन और चिन्तन, पं० सुखलालजी, गुजरात, विद्या सभा, अहमदाबाद, १९५७, पृ० ५३६।
(ब) नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् —मनु
उद्धृत परमसखा मृत्यु, काका कालेलकर, सस्ता साहित्य मण्डल, नइ दिल्ली,, १९७९, पृ०. २४।

(स) भवतृष्णा (जीने की तीव्र इच्छा) और विभवतृष्णा (मरने की तीव्र इच्छा) बुद्ध ने साधक को इन दोनों से बचने का निर्देश किया है।

(द) जीवियं नाभिकंखेज्जा मरणं नावि पत्थए।

१७. मरणपडियार भूया एसा एवं च ण मरणनिमित्ता जह गंडछेअकिरिआ णो आयविराहणारूपा।
—उद्धृत दर्शन और चिन्तन, पं०सुखलाल जी संधवी, गुजरात विधानसभा, अहमदाबाद, १९५७, पृ० ५३६।

१८. श्री अमर भारती मार्च १९६५ पृ० २६

१९. संजमहेउं देहो धारिज्जइ सो कओ उ तदमावे।
संजम-फाइनिमित्तं देह परिपालणा इट्ठा।।
— ओधनिर्युक्ति ४७

२०. श्रीअमरभारती, जैन संस्कृति की साधना, प्रका० सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, मार्च १९६५ पृ० २६।
तुलना कीजिए—विसुद्धिमग्ग १/१३३।

२१. दर्शन और चिन्तन, पं०सुखलाल संधवी, गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद, १९५७, खण्ड २ पृ० ५३३-३४।

२२. संभावितस्य चाकीर्तिमरणदतिरिच्यते। —गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, वि०सं० २०१८, २/३४।

२३. परमसखा मृत्यु, काका कालेलकर, प्रका० सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १९७९, पृ० ३१

२४. वही, काका कालेलकर, प्रका० सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १९७९, पृ० २६।

२५. पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म-भूमिका।

२६. परमसखा मृत्यु, काका कालेलकर, प्रका० सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १९७९, पृ० १९।

२७. पाश्चात्य आचार विज्ञान का आलोचनात्मक अध्ययन पृ० २७३।

२८. परमसखा मृत्यु, काका कालेलकर, प्रका० सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १९७९, पृ० ४३।

२९. गीता २/३४।

३०. परमसखा मृत्यु, काका कालेलकर, प्रका० सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १९७९, पृ० ४३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org